योजना प्रक्रिया का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(A CRITICAL EVALUATION OF THE PLANNING PROCESS)

भारत में योजना प्रक्रिया की आलोचना अक्सर मूल युक्ति में कमियों के आधार पर की जाती है। कार्यान्वयन के स्तर पर भी कुछ कमियां हैं परन्तु अधिकतर आलोचक इस बात को स्वीकार करेंगे कि ये कमियां आर्थिक आयोजन के स्वरूप से ही पैदा होती हैं। इसलिए हम अपने विवेचन में मुख्य रूप से युक्ति के दोषों पर ही विचार करेंगे।

वित्तीय युक्ति का न होना
(Absence of Financial Strategy)

भारत की योजना प्रक्रिया में कई दोष रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारी उद्योगों में निवेश के लिए विपुल घरेलू साधनों (मौद्रिक एवं अन्य) तथा विदेशी साधनों (पूँजी वस्तुओं, मशीनरी, औद्योगिक कच्चा माल तथा तकनीकी ज्ञान) की आवश्यकता पड़ती है। इन दोनों क्षेत्रों में कोई ठोस आर्थिक विचारधारा एवं नीति नहीं अपनाई गई और जो कुछ भी किया गया है वह तदर्थ नीति (ad hoc policy) के रूप में किया गया है। जहां तक घरेलू मौद्रिक साधन प्राप्त करने का सम्बन्ध है, यह आवश्यक था कि व्यापक नीतियां बनाई जातीं और ऐसे क्षेत्रों का पता लगाया जाता जो और साधन प्रदान कर सकते थे। ऐसा नहीं किया गया। **इस स्पष्टतया गलत धारणा के कारण कि 'जो भौतिक (physically) रूप से सम्भव है, वह वित्तीय (financially) रूप से सम्भव होगा ही' वित्तीय क्षेत्र में उतने प्रयत्न नहीं किए गए जितने आवश्यक थे और यही कारण है कि वित्तीय साधनों को उचित मात्रा में प्राप्त करना कठिन हो गया।** "योजना आयोग की यह धारणा थी कि यदि राष्ट्रीय आय का अधिक भाग 'वास्तविक रूप' से या 'संरचनात्मक रूप' से निवेशित किया जा सके तो प्रत्याशित बचत प्राप्त करना कठिन नहीं होगा और कार्यक्रम को स्फीति के डर के बिना लागू करना संभव हो सकेगा। यद्यपि एक स्तर पर यह बात सही लगती है तथापि **इस बात का यह अर्थ लगाना कि निवेश कितना ही बढ़ाया जाए बचत तो प्राप्त हो ही जाएगी, गलत है।** यदि हम स्फीति से बचना चाहते हैं तो आवश्यक है कि उन सब नीतियों का अलग से अध्ययन करें जो बचत बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं। कभी-कभी योजनाओं के भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपभोग के स्तर और संरचना को नियन्त्रित करने के कदम उठाने की आवश्यकता पड़ सकती है परन्तु इस सम्भावना पर आयोजकों ने विचार नहीं किया है।"[10]

वित्तीय युक्ति का न होना घातक सिद्ध हुआ। जहां योजनाओं का आकार लगातार बढ़ता गया वहां इस युक्ति की अनुपस्थिति में निवेश के लिए साधन पैदा करना कठिन हो गया। स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों में घाटे की वित्त व्यवस्था पर सरकार की

10. J.N. Bhagwati and S. Chakravarty, *p. cit.*, pp. 44-45.

Scanned with CamScanner

निर्भरता लगातार बढ़ती गई। इस निर्भरता के कारण देश में स्फीतिकारी शक्तियों को बल मिला और लगातार बढ़ती हुई कीमतों ने योजना प्रक्रिया में कई कठिनाइयां पैदा कर दीं। **विदेशी क्षेत्र से साधन प्राप्त करने के लिये भी कोई युक्ति नहीं अपनाई गई।** काफी समय तक सरकार के प्रयत्न तदर्थ नीतियों के रूप में रहे और उन्हें किसी स्पष्ट युक्ति में नहीं पिरोया गया। चूंकि विदेशी साधन प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि निर्यात आय को बढ़ाया जाए इसलिए यह आवश्यक था कि योजनाओं की विकास युक्ति में निर्यात युक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता। ऐसा नहीं किया गया।

यह बता पाना कठिन है कि निर्यातों के प्रति तटस्थता का यह रवैया इस विश्वास का परिणाम था कि निर्यातों को बढ़ाना सम्भव नहीं होगा या इस बात का कि महलानबीस के विकास मॉडल में बन्द अर्थव्यवस्था की मान्यता अन्तर्निहित थी। कारण जो भी रहा हो, काफी समय तक निर्यातों की उपेक्षा होती रही और आयोजकों का ध्यान अधिकतर आयात प्रतिबन्धों पर केन्द्रित रहा। सरकार की प्रत्येक आयात नीति में आयात प्रतिबन्धों को बढ़ाया जाता रहा यहां तक कि तीसरी योजना के अन्त तक ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि इस दिशा में अब और गुंजाइश नहीं है। इसलिए अब निर्यातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता महसूस हुई तथा निर्यात-युक्ति पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया। इस प्रकार हम काफी अरसे तक विना किसी निर्यात-युक्ति के काम चलाते रहे और भुगतान शेष के बढ़ते हुए घाटों को विदेशी सहायता से पूरा करते रहे। विदेशी सहायता पर इस बढ़ती हुई निर्भरता के कारण योजना प्रक्रिया में अनिश्चितता भी बढ़ती चली गई (इसका कारण यह है कि विदेशी सहायता की उपलब्धि अनिश्चित रहती है)।

औद्योगिक युक्ति के दोष
(Flaws in Industrial Strategy)

भारत की औद्योगिक युक्ति में निवेश दर को आर्थिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्धारक माना गया। आयोजकों का यह विश्वास था कि निवेश दर को बढ़ाने से आर्थिक विकास की दर को तेज किया जा सकेगा जिससे सभी आर्थिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हो सकेगी। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक विकास के कई निर्धारकों (जैसे बेहतर प्रबन्ध, अच्छा कौशल तथा मानव पूँजी का महत्व) की अवहेलना की गई। न ही इस बात की कोशिश की गई कि निवेश के बढ़ते हुए कार्यक्रमों को लागू करने की जिम्मेदारी जिस प्रशासन तन्त्र पर पड़ रही है उसकी दक्षता व क्षमता में सु धार लाया जाये। यह भी सम्भव है कि निवेश दर को बढ़ाने की उत्सुकता में हमने कुछ ऐसे क्षेत्रों की अवहेलना की जिनसे विकास दर पर तो अधिक प्रभाव पड़ने की आशा न हो परन्तु जिनसे आर्थिक योजना को अधिक उद्देश्यपूर्ण बनाया जा सकता और जनसामान्य का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो सकता जो हमें अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है परन्तु जिसकी प्राप्ति गरीबी व आर्थिक पिछड़ापन दूर करने के लिए आवश्यक है। निवेश दर पर अत्यधिक जोर देने के परिणामस्वरूप आयोजक उत्पादन-सम्बन्धों (production relations) के महत्व को समझने में असफल रहे और उनकी इस असफलता के कारण आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।[11]

औद्योगिक क्षेत्र में कुल निवेश को बढ़ाने के प्रयासों में आयोजक इस निवेश की 'संरचना' (structure) पर विचार करना भूल गए। एस. एल. शेट्टी ने अपने अध्ययन में इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि 1965 के बाद औद्योगिक क्षेत्र में निवेश धनी आय वर्गों की उपभोग-मांग को पूरा करने के लिए उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के लिए अधिक किया गया तथा मूलभूत व पूंजीगत उद्योगों की वृद्धि दर अपेक्षाकृत कम रही। पंजीकृत औद्योगिक क्षेत्र के कुल निवल वर्धित मूल्य (total net value added) में मूलभूत व पूँजीगत उद्योगों का हिस्सा, जो 1960-61 की कीमतों पर, 1951-53 में 31 प्रतिशत था, 1965-67 में सर्वाधिक (अर्थात 46.6 प्रतिशत) हो गया और फिर कम होकर 1970-72 में 44 प्रतिशत रह गया। बाद के वर्षों में यह इसी स्तर पर स्थिर हो गया। शेट्टी के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि 1965-66 से 1976-77 के बीच, इससे पहले के पांच वर्षों की तुलना में, मूलभूत व पूंजीगत क्षेत्र में शामिल अधिकतर उद्योगों (जैसे कि कच्चा लोहा, निर्मित स्टील, स्टील की छड़ें, औद्योगिक मशीनरी, मशीन टूल्स व रेलवे उपकरण, सीमेंट इत्यादि) में वृद्धि की दरें कम हो गई थीं जबकि इस अवधि में धनी वर्गों के उपभोग के लिए वस्तुओं का उत्पादन (जैसे बढ़िया किस्म का कपड़ा, घड़ियां, स्टील का फर्नीचर, फ्रिज, एयरकण्डीशनर इत्यादि वस्तुओं का उत्पादन) बड़ी तेजी से बढ़ा था। इसी प्रवृत्ति को शेट्टी ने **संरचनात्मक प्रतिगमन** structural retrogression) का नाम दिया है।[12] **1980 के दशक में**

11. Pradhan H. Prasad, "Production Relations : Achilles' Heel of Indian Planning", *Economic and Political Weekly*. May 12, 1973.
12. S.L. Shetty, *op. cit.*

Scanned with CamScanner

औद्योगिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीति के कारण औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में तेजी आई और औद्योगिक उत्पादन में 7.8 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। **लेकिन इस अवधि में औद्योगिक ढांचे में अनेक विकृतियां पैदा हो गईं।** यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि 1981-82 की अवधि में जहां औद्योगिक उत्पादन में वार्षिक वृद्धि दर 7.8 प्रतिशत थी वहां टिकाऊ उपभोक्ता वस्तु क्षेत्र में उत्पादन वृद्धि की दर 10.8 प्रतिशत वार्षिक थी जो औद्योगिक क्षेत्र के अन्य सभी उप-क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि की दरों से ऊंची थी। 1993-94 से 2001-02 के बीच उदारीकरण के जोर के बावजूद औद्योगिक विकास की दर 6.6 प्रतिशत वार्षिक रही।

औद्योगिक युक्ति के कार्यान्वयन के लिए बहुत से उद्योगों में व्यापक पैमाने पर निवेश की आवश्यकता थी। परन्तु ऐसा करने से पहले निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना जरूरी था : (*i*) पूंजीगत वस्तु उद्योगों में शुरू में किस प्रकार की मशीनों का उत्पादन किया जाए; (*ii*) सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न उद्योगों को समय के साथ-साथ कैसे विकसित किया जाए; (*iii*) योजनाओं को लागू करने के लिए कुशल श्रमिकों, तकनीकी विशेषज्ञों व प्रशासकों की 'क्षमता' क्या है; (*iv*) किस तरह की प्रबन्धकीय व सगंठनात्मक समस्याएं विद्यमान हैं और किस तरह की समस्याएं भविष्य में पैदा हो सकती हैं; तथा (*v*) व्यष्टि-स्तर (micro-level) पर तैयार की गई परियोजनाओं को समष्टि-स्तर (macro-level) पर राष्ट्रीय योजनाओं के साथ किस तरह एकीकृत (integrate) किया जाए। परन्तु दुर्भाग्यवश इन बातों पर ध्यान नहीं दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े उद्योगों की स्थापना में विलम्ब हुए, परियोजनाओं का चुनाव व कार्यान्वयन दोषपूर्ण तरीके से हुआ, लागतों में वृद्धि हुई, एक ही तरह के पूंजीगत उद्योग स्थापित किये गये और विभिन्न उद्योगों के लिए कोई समयबद्ध कार्यक्रम नहीं अपनाया गया तथा कई उद्योगों में क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो सका। इन सबके कारण बड़े इस्पात, भारी मशीनरी, उर्वरक तथा रासायनिक उद्योगों की स्थापना में देरी हुई। **क्योंकि ये उद्योग कई अन्य उद्योगों से भी जुड़े होते हैं इसलिए इनकी स्थापना में देरी होने से कई अन्य उद्योगों** के विकास में भी कठिनाइयां पैदा हो गईं।

इन कठिनाइयों के पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि आयोजकों का पूरा ध्यान योजनाओं के 'निर्माण' (formulation) पर केन्द्रित था, कार्यान्वयन (implementation) को प्रशासन की जिम्मेवारी मानकर उस पर विचार नहीं किया गया था। परन्तु किसी भी योजना के कामयाब कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक होता है कि 'कार्यान्वयन का भी आयोजन' (planning of implementation) किया जाए। इस प्रकार का आयोजन न होने के कारण न केवल औद्योगिक क्षेत्र में कठिनाइयां आईं बल्कि अन्य सभी क्षेत्रों में भी बहुत सी समस्याएं पैदा हो गईं। व्यष्टि-स्तर पर आंकड़ों के अभाव तथा राज्य व जिला स्तर पर आयोजन की व्यवस्था न होने के कारण जटिलताएं और ज्यादा बढ़ गईं।

रोजगार युक्ति की अवहेलना
(Neglect of Employment Strategy)

योजनाओं में रोजगार अवसरों में वृद्धि को आयोजन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना गया है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि योजनाएं बनाते समय इस उद्देश्य को ध्यान में नहीं रखा गया है। **आयोजक यह मानते रहे हैं कि उत्पादन और रोजगार में सीधा धनात्मक सम्बन्ध है अर्थात् उत्पादन के स्तर में वृद्धि होने से रोजगार के स्तर में भी लगभग उसी अनुपात में वृद्धि होती है। सम्भवतः यही कारण है कि रोजगार युक्ति बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है।** परन्तु आंकड़ों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्पादन और रोजगार स्तर में कोई सीधा व धनात्मक सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए जहां 1951 से 1969 के बीच फैक्ट्री उत्पादन में वार्षिक वृद्धि दर 7 प्रतिशत थी, वहां रोजगार में वार्षिक वृद्धि दर मात्र 3 प्रतिशत थी। 1961 से 1979 के बीच जहां आधुनिक फैक्ट्री क्षेत्र मे निवेश 139 प्रतिशत और उत्पादन 161 प्रतिशत बढ़ा वहां रोजगार केवल 71 प्रतिशत ही बढ़ पाया। इसका प्रमुख कारण यह है कि कई उद्योगों में उत्पादन तकनीकें पूंजी प्रधान थीं। **1983 से 1999-2000 के बीच रोजगार लोच में भारी कमी हुई।** 1983 से 1993-94 के बीच रोजगार लोच 0.52 थी जो 1993-94 से 1999-2000 के बीच 0.16 रह गई। अतः जहां 1983 से 1993-94 के बीच रोजगार विस्तार की वार्षिक दर 2.70 प्रतिशत थी, वहां वह 1993-94 से 1999-2000 के बीच 1.07 प्रतिशत वार्षिक रह गई।[13] राष्ट्रीय सेंपिल सर्वेक्षण के 55वें दौर के अनुसार 1993-94 और 1999-2000 के बीच बेरोजगारी बढ़ी है। दसवीं योजना के दस्तावेज के अनुसार, 2001-02 में दैनिक बेरोजगारी श्रम शक्ति की 9.2 प्रतिशत थी।[14]

13. Planning Commission, *Tenth Plan, 2002-2007*, Volume 1, (New Delhi, 2003), Annexure 5.6 p. 163.
14. *Ibid.* p. 144.

Scanned with CamScanner

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादन और रोजगार के बीच सम्बन्ध की अवास्तविक व त्रुटिपूर्ण मान्यता के अतिरिक्त, रोजगार युक्ति की अवहेलना का एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि **आयोजन के जो मॉडल बनाये गए उनमें दुर्लभ साधनों (scarce factors) जैसे पूंजी व विदेशी विनिमय पर ध्यान केन्द्रित किया गया। यह मानकर कि श्रम अत्यधिक मात्रा में आसानी से उपलब्ध है उसे मॉडलों में शामिल नहीं किया गया।** इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक योजना में रोजगार अवसर प्रदान करने के लिए विशिष्ट योजनाएं बनाई गईं। उदाहरण के लिए, तीसरी योजना में ग्रामीण कार्य कार्यक्रम (Rural Works Programme) आरम्भ किया गया जिसे चौथी योजना में भी चालू रखा गया। इसके अलावा चौथी योजना में रोजगार के कई और कार्यक्रम जैसे ग्रामीण रोजगार का पुरजोर कार्यक्रम, लघु किसान विकास एजेन्सी, सीमान्त किसान व खेतिहर मजदूर विकास एजेन्सी, सूखा सम्भावी क्षेत्र कार्यक्रम इत्यादि शुरू किए गए। परन्तु ये सब कार्यक्रम तदर्थ (ad hoc) थे तथा जल्दबाजी में बनाए व लागू किए गए थे। इसलिए इनके सफल होने की कोई आशा नहीं थी। क्योंकि इन कार्यक्रमों को पंचवर्षीय योजनाओं के ढांचे में समन्वित नहीं किया गया था इसलिए साधनों का अत्यधिक अपव्यय हुआ और योजना का कार्यान्वयन करने वाले अधिकारियों ने भी इन पर खास ध्यान नहीं दिया। पांचवीं योजना में काम के बदले अनाज कार्यक्रम शुरू किया गया। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम और समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को छठी योजना में बेरोजगारी निवारण के लिए अपनाया गया और सातवीं योजना में इन्हें जारी रखा गया। ये रोजगार कार्यक्रम पहले के रोजगार कार्यक्रमों से ज्यादा अच्छे तैयार किए गए थे और इनका कार्यान्वयन भी अधिक अच्छा रहा। सातवीं योजना के अन्तिम वर्ष में जवाहर रोजगार योजना आरम्भ की गई और उसमें राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम को मिला दिया गया। लेकिन ये सभी कार्यक्रम देश में बेरोजगारी की बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने में बहुत ज्यादा सफल नहीं हो पाए। वर्ष 2006 में शुरू की गई राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या का हल करने का पहला राष्ट्रव्यापी गंभीर प्रयास है। इसमें प्रत्येक ग्रामीण परिवार को वर्ष में कम से कम 100 दिन रोजगार देने की गारण्टी है।

यहां इस बात पर भी जोर देना आवश्यक है कि **हमारी योजनाओं में अन्तर्सम्बन्धित (inter-related) शिक्षा एवं रोजगार युक्ति का सर्वथा अभाव था।** अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की तुलना में माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा की वृद्धि की दर अधिक रही है जिससे अर्थव्यवस्था में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो गई है। विश्वविद्यालय तथा कालेज एक तरह से 'आश्रय' के स्थान बन गए हैं, जहां विद्यार्थी 'जितने वर्ष सम्भव हो सार्वजनिक खर्च पर एवं सामाजिक रूप से स्वीकार्य वातावरण में बिता देता है।' अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा सुविधाओं का विकास न होने के कारण अर्थव्यवस्था में दो तरह से असन्तुलन पैदा हुआ है: (*i*) एक ओर तो शिक्षित बेरोजगारों का एक बड़ा वर्ग तैयार हो गया है जिनमें से अधिकतर लोग सफेदपोश नौकरियां चाहते हैं और शारीरिक श्रम करने को निकृष्ट काम मानते हैं तथा (*ii*) कई बार ऐसी स्थिति होती है कि यद्यपि उच्च शिक्षा प्राप्त लोग मिल तो जाते हैं तथापि इस प्रकार की योग्यता के लोग नहीं मिलते जिनकी आवश्यकता होती है। इस समस्या के समाधान हेतु अब बहुत स्थानों पर व्यावसायिक स्कूल खोले जा रहे हैं परन्तु कठिनाई यह है कि विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार के कौशल प्राप्त लोगों की कितनी आवश्यकता होगी इस बात का पूरा ध्यान नहीं किया गया है। इस प्रकार के वातावरण में यदि व्यावसायिक शिक्षा दी भी जाए तो भी उससे समस्या का समाधान नहीं होता, केवल उसका स्वरूप बदल जाता है।

व्यापक स्तर पर गरीबी का अस्तित्व
(Prevalence of Widespread Poverty)

कुछ अर्थशास्त्रियों ने भारत में गरीबी की माप करने के प्रयास किए हैं और यद्यपि उनके अनुमानों में कुछ अन्तर हैं, तथापि वे सभी इस बात पर सहमत हैं कि **आयोजन के इतने वर्षों बाद भी जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग गरीबी की रेखा से नीचे रह रहा है।** गरीबी के बारे में महत्वपूर्ण अनुमान योजना आयोग के अलावा दांडेकर व रथ, पी. के. बर्धन, तेन्दुलकर, मोन्टेक एस. आहलूवालिया, ओज़लर, दत्त एवं रैविलयन और एस. पी. गुप्त के हैं।

पी. के. वर्धन के अनुसार 1970 के दशक में गरीबी की रेखा से नीचे ग्रामीण लोगों की प्रतिशत संख्या में वृद्धि हुई थी। दांडेकर व रथ के अनुसार यह प्रतिशत संख्या स्थिर रही थी जबकि मिन्हास के अनुसार ग्रामीण गरीबों की प्रतिशत संख्या कम हुई थी। एम. एस. आहलूवालिया के अनुसार 1956-57 से 1973-74 के बीच ग्रामीण गरीबी की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति नहीं थी। इन अनुमानों से प्राप्त निष्कर्षों में इतनी भिन्नता के कारण यह कह पाना कठिन है कि योजना प्रक्रिया के कारण गरीबों की दशा में सुधार हुआ [illegible] बात से सहमत हैं कि जनता का एक काफी बड़ा हिस्सा गरीबी की रेखा से नीचे

Scanned with CamScanner

रह रहा है। योजना आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि 1977-78 में ग्रामीण जनता का 50.82 प्रतिशत तथा शहरी जनसंख्या का 38.19 प्रतिशत गरीबी की रेखा से नीचे था। पूरी जनसंख्या को देखें तो गरीबी की रेखा से नीचे जनता का 48.13 प्रतिशत था। गरीबी की रेखा को 1977-78 की कीमतों पर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 65 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति मास (जो 2400 कैलारी प्रतिदिन प्रदान करने के लिए काफी है) तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 75 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति मास (जो 2100 कैलारी प्रतिदिन प्रदान करने के लिए काफी है) परिभाषित किया गया। राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण के 55वें दौर में 1999-2000 के लिए तथा 61वें दौर में 2004-05 के लिए गरीबी के आंकड़े दिए गए हैं। 55वें दौर के अनुसार 1999-2000 में ग्रामीण जनसंख्या का 27.1 प्रतिशत, शहरी जनसंख्या का 23.6 प्रतिशत तथा पूरे देश की जनसंख्या का 26.1 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था (30 दिन की याददाश्त अवधि के आधार पर)। 61वें दौर के अनुसार, समान याददाश्त अवधि के आधार पर, 2004-05 में ग्रामीण जनसंख्या का 28.3 प्रतिशत, शहरी जनसंख्या का 25.7 प्रतिशत तथा देश की जनसंख्या का 27.5 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे था। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्रियों ने तर्क दिया है कि इन दौरों में गरीबी निर्धारण की विधि दोषपूर्ण थी और वास्तविक गरीबी का स्तर इससे कहीं ज्यादा है। इन आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने सुरेश डी. तेन्दुलकर की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया। इस समिति ने नवम्बर 2009 में अपनी रिपोर्ट जारी की। इस समिति के अनुसार **2004-05 में 41.8 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या तथा 25.7 प्रतिशत शहरी जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे थी। पूरे देश पर एक साथ विचार करें तो 2004-05 में देश की 37.2 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे थी।**[15] **लगभग साढ़े पांच दशक के आयोजन के बाद भी इतने बड़े पैमाने पर गरीबी का अस्तित्व निश्चय ही गंभीर चिन्ता का कारण है।**

आय और धन की असमानताएं
(Inequalities in Income and Wealth)

भारत में जिस समय आयोजन प्रक्रिया आरम्भ हुई उस समय सम्पत्ति और आय की काफी असमानताएं थीं। **आरम्भ में आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए आयोजकों ने "रिसन प्रभाव" (trickle down effect) पर निर्भरता दिखाई थी। तात्पर्य यह है कि आयोजकों का मानना था कि धीरे-धीरे आर्थिक संवृद्धि के लाभ रिस-रिसकर समाज के सभी वर्गों तक पहुंच जाएंगे। लेकिन जब ऐसा नहीं हुआ तो आय की असमानताओं को कम करना आर्थिक आयोजन का स्पष्ट उद्देश्य स्वीकार कर लिया गया। लेकिन यह उद्देश्य कभी मुख्य उद्देश्य नहीं माना गया।** अतः कालांतर में आय की असमानताएं बढ़ीं। आर्थिक सुधारों की अवधि में धनी वर्ग को विकास का अधिक मौका मिला है तथा उसके हाथ में आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण और बढ़ा है जबकि निर्धन वर्ग बहुत पिछड़ गया है। इससे आर्थिक असमानताओं में और वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, घरेलू पारिवारिक व्यय में सबसे धनी 10 प्रतिशत वर्ग का हिस्सा 1989-90 में 27.1 प्रतिशत से बढ़कर 2004-05 में 31.1 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में सबसे धनी 20 प्रतिशत वर्ग का घरेलू पारिवारिक व्यय में हिस्सा 41.3 प्रतिशत से बढ़कर 45.3 प्रतिशत हो गया।[16]

आय वितरण से सम्बन्धित सभी उपलब्ध जानकारी का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि संवृद्धि से लाभ समाज के एक विशिष्ट वर्ग को ही हुआ है। तेजी से पनप रही काले धन की अर्थव्यवस्था ने इस छोटे से वर्ग के हाथों में असीम आर्थिक शक्ति केन्द्रित कर दी है। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में काले धन की अनुमानित मात्रा सकल घरेलू उत्पाद की 7 प्रतिशत थी। 1981 में यह बढ़कर 20 प्रतिशत, 1990-91 में 35 प्रतिशत तथा 1995-96 में 40.0 प्रतिशत हो गई।[17] स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों में भ्रष्टाचार तथा कई अन्य सामाजिक कुरीतियों को बल मिला।

Scanned with CamScanner